Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 18, Issue No. 4, July-2021, ISSN 2230-7540

वर्तमान भारतीय शिक्षा की समस्यायें एवं उनके समाधान में परम्परागत भारतीय शिक्षण पद्धतियों की प्रासंगिकता

Dr. S. K. Mahto[1]* Dr. Rani Mahto[2]

[1] Principal, Thakur Durgpal Singh Memorial B.Ed. College, RRBM University, Alwar, Rajasthan

[2] Assistant Professor, Thakur Durgpal Singh Memorial B.Ed. College, RRBM University, Alwar, Rajasthan

सारांश - *भारतीय संस्कृति का प्रवाह पूर्व वैदिक काल से लेकर आज तक निरन्तर गतिमान है। समय-समय पर विजातीय संस्कृतियों की चुनौती अवश्य खड़ी होती रही है। जैसे मौर्यो के पतन के बाद 400 वर्षो का विदेशी शासन, हिन्दू राजाओं के पतन के बाद 600 वर्षो का इस्लामी शासन तथा इस्लामी शासन के पतन के बाद दौ सौ वर्षो का अंग्रेजी शासन। लेकिन इतने दीर्घकालीन आक्रमणों के बावजूद भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता पर कभी पहचान का संकट नहीं आया। यह स्वयं प्रमाणित करता है कि भारतीय परम्परा के मूल आधार शाश्वत तत्वों से ओत-प्रोत है। इन्हीं शाश्वत तत्वों की अभिव्यक्ति परम्परागत भारतीय शिक्षण पद्धतियों में परिलक्षित होती है। यद्यपि देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार कुछ प्रथायें आज के सन्दर्भ में निरर्थक एवं अप्रासंगिक है। लेकिन फिर भी, कुछ को नये सन्दर्भो के अनुरूप पुनर्व्याख्यायित करने की आवश्यकता है।इस प्रकार से भारतीय परम्परा में प्रचलित शिक्षा प्रणालियों की अवधारणा अत्यन्त प्रासंगिक है। तत्कालीन शिक्षा को उपभोक्ता वस्तु कभी नहीं बनाया गया, उस पर धन का वर्चस्व कभी स्वीकार नहीं किया गया। हिन्दू शिक्षा पद्धति के गुरूकुल परम्परा में निःशुल्क शिक्षा के साथ ही छात्र को अपने भोजन, निवास, वस्त्रादि पर भी कुछ व्यय नहीं करना पड़ता था। भोजन के लिये छात्र भिक्षाटन करता था। विद्यार्थियों द्वारा भिक्षाटन उस समय की सम्मानित प्रथा थी तथा गृहस्थ अपना परम सौभाग्य समझता था कि उसके यहाँ कोई विद्यार्थी भिक्षाटन के लिये आये। अभिभावकों को अपने बालकों की शिक्षा के लिये विशेष चिन्तित नहीं रहना पड़ता था। शिक्षा प्रदान करना एक तरह से समाज की जिम्मेदारी थी। इन आदर्शों को अपनाकर यदि हम वंचित वर्गो की शिक्षा में बाधक तत्त्वों, रोटी, कपड़ा और निवास आदि को उपलब्ध करा दें तो निश्चित रूप से उनकी शिक्षा का विकास होगा और वे शिक्षा प्राप्ति के लिये अग्रसर होंगे। आज आवश्यकता इस बात की है कि वंचितों को आरक्षण के बजाय सामाजिक संरक्षण प्रदान किया जाय। इस दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय परम्पराओं में प्रचलित शिक्षण पद्धति की प्रासंगिकता आज भी है।*

कुंजी शब्द - *भारतीय शिक्षा, परम्परागत शिक्षा एवं उनकी प्रासंगिकता*

----------X----------

भूमिका

भारतीय संस्कृति का प्रवाह पूर्व वैदिक काल से लेकर आज तक निरन्तर गतिमान है। समय-समय पर विजातीय संस्कृतियों की चुनौती अवश्य खड़ी होती रही है। जैसे मौर्यो के पतन के बाद 400 वर्षो का विदेशी शासन, हिन्दू राजाओं के पतन के बाद 600 वर्षो का इस्लामी शासन तथा इस्लामी शासन के पतन के बाद दौ सौ वर्षो का अंग्रेजी शासन। लेकिन इतने दीर्घकालीन आक्रमणों के बावजूद भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता पर कभी पहचान का संकट नहीं आया। यह स्वयं प्रमाणित करता है कि भारतीय परम्परा के मूल आधार शाश्वत तत्वों से ओत-प्रोत है। इन्हीं शाश्वत तत्वों की अभिव्यक्ति परम्परागत भारतीय शिक्षण पद्धतियों में परिलक्षित होती है। यद्यपि देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार कुछ प्रथायें आज के सन्दर्भ में निरर्थक एवं अप्रासंगिक है। लेकिन फिर भी, कुछ को नये सन्दर्भो के अनुरूप पुनर्व्याख्यायित करने की आवश्यकता है। परम्परागत भारतीय शिक्षा प्रणाली में कुछ ऐसे श्रेष्ठ तत्व विद्यमान है, जिनमे आलोक में आज की अत्यन्त महत्वपूर्ण शैक्षिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में स्पष्ट रूप से ज्वलन्त प्रमुख वर्तमान राष्ट्रीय शैक्षिक समस्याओं को रेखांकित किया है। सबके लिये शिक्षा को भारत के भौतिक और आध्यात्मिक विकास की

www.ignited.in

बुनियादी आवश्यकता बताया गया है। शिक्षा को वह साधन बताया गया है जिसकी सहायता से संविधान में प्रतिष्ठित समाजवाद, धर्म निरपेक्षता और लोकतन्त्र की प्राप्ति हो सकती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उल्लिखित प्रमुख भारतीय शैक्षिक समस्याओं के आलोक में प्रस्तुत अध्याय में कुछ प्रमुख शैक्षिक समस्याओं को चयनित किया गया है, जो निम्नलिखित हैं - आदर्शवादिता, शान्त वातावरण,छात्रों का सरल जीवन, शिक्षा संस्थाओं का जनतन्त्रीय संगठन, निरक्षरता, अनुशासनहीनता, मूल्यपरक शिक्षा, शैक्षिक गुणवत्ता, वंचित वर्गो की शिक्षा, शिक्षा का उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि और शिक्षक-शिष्य सम्बन्ध। उपरोक्त समस्याओं का समाधान प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धतियों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है तथा उनकी प्रासंगिकता को भी परखा गया है।

आदर्शवादिता

आज हमने आधुनिक युग में पदार्पण किया है तथा भौतिकवादी प्रवृति की ओर अग्रसर हो रहे हैं किन्तु अपनी प्राचीन सभ्यता व संस्कृति को जो हमें विरासत में मिली हैं, आत्मसात किये हुए हैं। हम आज भी धर्म, ईश्वर और निष्काम कर्म को महत्व देते हैं। वर्तमान परिवेश में भी हम धन की अपेक्षा चरित्र को, भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को और विज्ञान की अपेक्षा दर्शन को अधिक महत्व देते हैं। आज जबकि सम्पूर्ण विश्व धन, शक्ति, हिंसा और कूटनीति में लिप्त है, हम भारतीय प्रेम, सत्य, अहिंसा, त्याग और तपस्या के समक्ष पूर्ण समर्पण से नतमस्तक हो जाते हैं। उपर्युक्त सभी तथ्यों का अभिप्राय यह है कि हम आज भी आदर्शवाद को नहीं भूले हैं, जिस का प्राचीन शिक्षा द्वारा छात्रों के मन और मस्तिष्क में समावेश किया जाता था। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन आदर्शवादिता को आधुनिक शिक्षा में स्थान दिया जा सकता है और दिया भी जाना चाहिये। डॉ. महेशचन्द्र सिंघल ने राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित "भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्यायें' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है -'हम वैदिकालीन शिक्षा की आदर्शवादिता को आधुनिक शिक्षा के एक मूल-सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर सकते हैं और जीवन-निर्माण, चरित्र-निर्माण तथा सादा-जीवन और उच्च विचार को शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में स्थान दे सकते हैं।

शान्त वातावरण

प्राचीनकाल की सभी शिक्षा-संस्थायें नगर के कोलाहल और विषाक्त वातावरण से दूर किसी शान्त और रमणीक स्थान में स्थित थी। आधुनिक युग में नगरीकरण के प्रभाव के कारण सभी व्यक्तियों में नगरों में निवास करने की प्रवृति सबल हो गयी है। ऐसी दषा में आज की शिक्षा संस्थाओं की नगरों से पृथकता सम्भव नहीं है, पर फिर भी उनका निर्माण नगरों के कोलाहल और गन्दगी से दूर किसी शान्त, स्वच्छ, स्वास्थ्यकर और प्राकृतिक वातावरण में किया जा सकता है। इस प्रकार की शिक्षा-संस्थायें न केवल छात्रों के मानसिक विकास में योग देगी वरन् उनकी नगरों के दिन-प्रतिदिन झगड़ों, राजनैतिक कुचक्रो अवांछनीय प्रवृतियों तथा प्रदूषण से रक्षा भी करेगी।

छात्रों का सरल जीवन

प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था में छात्र सदा सरल एवं संयमी जीवन व्यतीत करते थे। बौद्धकाल में छात्रों के जीवन के दो मुख्य आदर्श थे- सादगी और श्रेष्ठ विचार। इन आदर्शों के बावजूद उनके लिये तपस्यापूर्ण जीवन के बजाय सुख-सुविधापूर्ण जीवन को अच्छा माना जाता था, इसलिये उनको भोजन, वस्त्र, निवास, चिकित्सा आदि की सुविधएँ प्रदान की गयी थी। अतः आधुनिक भारत में उनका जीवन भले ही अक्षरषः अनुकरणीय न हो, पर ग्रहणीय अवश्य है। आज के छात्रों के जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया है। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करना नहीं है, अपितु सिनेमा देखना, हड़ताले करना, अश्लील साहित्य पढ़ना, नशीली वस्तुओं का सेवन करना और ऐष्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना हो गया है।

ऐसी परिस्थिति में प्राचीन काल के छात्रों के उदाहरण को आज के छात्रों के समक्ष रखकर उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन किया जाना अनिवार्य है। बौद्धकालीन शिक्षा के उस मध्यममार्गीय तथ्यों का अनुसरण भी सर्वथा उचित प्रतीत होता है, जिसको अपनाकर छात्रों को आधुनिक आविष्कारों से प्राप्त होने वाली सुख-सुविधाओं से वंचित न करके, सादगी और श्रेष्ठ विचारों के आदर्शों को प्राप्त करने के लिये अनुप्राणित किया जा सकता है।

शिक्षा संस्थाओं का जनतन्त्रीय संगठन

बौद्धकाल में शिक्षा-संस्थायें बाह्य नियन्त्रण से मुक्त थी और उनका संगठन जनतन्त्रीय आधार पर किया गया था। आज हमारे देश में ऐसी सहस्त्रों शिक्षा संस्थायें है जो न तो बाह्य नियन्त्रण से मुक्त है और न जिनका संगठन ही जनतन्त्रीय है। इन संस्थाओं का स्वरूप बौद्ध काल की शिक्षा-संस्थाओं के अनुरूप बनाया जाना वांछनीय है। इस स्वरूप को अंकित करते हुए डॉ. आर.के. मुकर्जी ने लिखा है -"बौद्ध प्रणाली में शिक्षा विहार या मठ में दी जाती थी, जिसमें सामूहिक जीवन, भ्रातृत्व भावना और जनतन्त्र के लिये अवसर प्रदान होता था।

निरक्षरता

प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार आधुनिक भारत की एक बहुत बड़ी समस्या है। साक्षर जनता की संख्या में वृद्धि होने के

www.ignited.in

बावजूद पूर्ण साक्षरता का लक्ष्य अभी भी नजरों से ओझल है। भारत के संविधान की धारा 45 के अन्तर्गत कहा गया है कि इस संविधान के लागू होने के 10 वर्ष के अन्दर अनिवार्य रूप से सभी को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जायेगी। उपरोक्त तथ्यों पर विचार करने पर वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में निरक्षरता का तात्पर्य है, अक्षर का ज्ञान न होना या लिखने, पढ़ने एवं गणना करने का ज्ञान न होना या प्राथमिक शिक्षा से वंचित होना। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों में भी जो निरक्षण प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के लिये चलाये जाते हैं, प्रायः लिखना, पढ़ना एवं साधारण गणना का ज्ञान कराया जाता है। लेकिन यह तथ्य विशेष रूप से इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि शिक्षा के क्षेत्र में लिखने का प्रयोग बहुत बाद में हुआ।

निरक्षरता की समस्या के समाधान को प्रस्तुत करने से पूर्व शिक्षा और निरक्षरता की अवधारणा पर विचार करना आवश्यक है। शिक्षा से तात्पर्य केवल उन ज्ञान, अनुभवों और कौशलों से नहीं है जो विद्यालयों में प्रदान किये जाते हैं, बल्कि शिक्षा एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है, जो पूर्वनिर्धारित आदर्शों एवं लक्ष्यों के अनुसार न केवल ज्ञान, अनुभव और कौशल प्रदान करती है बल्कि मनुष्य और समाज का रूपान्तरण भी करती है। संविधान के लक्ष्यों के अनुसार यदि विचार किया जाये तो आज भारतीय समाज में एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता है, जो न केवल अपने यथास्थितिवादी दायित्वों का निर्वाह करें। प्राचीन भारतीय परम्परा में न तो शिक्षा शुल्क अनिवार्य था और न ही संस्थागत शिक्षा को माना जाता था। आज शिक्षा की एक ऐसी अवधारणा विकसित करने की आवश्यकता है जो न केवल कम खर्चीली हो बल्कि संस्थाओं के औपचारिक जकड़न से भी दूर हो। शिक्षा से हमारा तात्पर्य केवल बौद्धिक ज्ञान प्रदान करने से न हो, बल्कि शिक्षा वह हो, जो व्यक्ति को शारीरिक रूप से स्वस्थ रखे, मानसिक रूप से विकसित और संतुलित करे, सामाजिक रूप से व्यक्ति को इतना जागरूक बनाये कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में अपनी भूमिका का सशक्त ढंग से निर्वाह कर सके, आध्यात्मिक रूप से मनुष्यत्व का निर्माण कर सके, सांस्कृतिक रूप से व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय तत्वों को पूरा कर सके तथा संस्कृति का संरक्षण करने में समर्थ हो। इस सन्दर्भ में तीनों प्रमुख भारतीय शैक्षिक परम्पराओं में निर्दिष्ट शैक्षिक उद्देश्य आज भी प्रासंगिक है। भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति के संरक्षण को प्राचीन भारतीय परम्पराओं में एक महत्वपूर्ण शैक्षिक मूल्य के रूप में निरूपित किया गया है। निरक्षरता उन्मूलन के कार्यक्रम से सम्बन्धित अध्यापकों के लिये प्राचीन भारतीय परम्परा में निर्धारित अपेक्षित योग्यताएँ एवं कर्त्तव्य आज भी प्रासंगिक है। दुनियां की दूसरी सबसे बड़ी जनसंख्या वाले राष्ट्र में निरक्षरता उन्मूलन का कार्य केवल वेतनभोगी शिक्षकों के द्वारा शायद ही संभव हो। पाठ्यक्रम के दृष्टिकोण से भी निरक्षरता उन्मूलन के लिये इस तरह के पाठ्यक्रम निर्माण की आवश्यकता है, जो क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल हो, साथ ही पाठ्य-वस्तु, उनके ज्ञानात्मक परिक्षेत्र के अन्तर्गत हो। इस दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय परम्पराओं के पाठ्यक्रम क विशेषताएँ मुख्य रूप से विचारणीय है। क्योंकि प्राचीन भारतीय शिक्षा के पाठ्यक्रम गुरूओं या आचार्यो के अनुसार तथा व्यक्तिगत एवं क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप होते थे। निरक्षरता उन्मूलन के कार्यक्रम पर सरकार अत्यधिक धनराषि खर्च कर रही है लेकिन वंचित वर्गो के निरक्षरता सम्बन्ध समस्याओं का समाधान संभव नहीं हो पा रहा है।

मूल्यपरक शिक्षा

भारतीय आधुनिक शिक्षा अंग्रेजों द्वारा स्थापित एवं संचालित औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली की अगली कड़ी है। ब्रिटिश राज्य द्वारा संचालित शिक्षा प्रणाली का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य ब्रिटिश राज्य के औपनिवेशिक हितों की पूर्ति करना था। निश्चय ही इस तरह के शैक्षिक आयोजन में ऐसे मूल्यों को स्थान नहीं दिया जा सकेगा जो परम्परा से भारतीय हो, परम्परागत सांस्कृतिक अस्मिता एवं चेतना का उद्वोध करते हो, साथ ही, भारतीय जनता के हितों के अनुकूल हो। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः या 'वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे मूल्य औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के द्वारा नहीं प्रतिपादित किये जा सकते। भारतीय समाज एक परम्परागत समाज है। परम्परागत शैक्षिक मूल्य आज भी भारतीय समाज में मान्य है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद भी प्रचलित शिक्षा प्रणाली में मूल्यों की शिक्षा पर अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आधुनिक भारतीय शिक्षा द्वारा संस्कारयुक्त परिष्कृत मनुष्यत्व का निर्माण नहीं हो पा रहा है। प्रचलित शिक्षा प्रणाली में वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय मूल्यों में तारतत्यता एवं संगति नहीं दिखलायी पड़ती। इस सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्पराओं में वर्णित शैक्षिक मूल्य स्वयं में प्रासंगिक है। शैक्षिक जगत् में यदि आचारगत श्रेष्ठता विकसित करनी है तो हमें प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्पराओं को ध्यान में रखना ही होगा। आज मूल्यों की शिक्षा पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा दी जा रही है, जबकि प्राचीन भारत में शैक्षिक मूल्यों की स्थापना शिक्षक और शिक्षार्थी के यथार्थ आचरण के द्वारा की जाती थी। प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्पराओं में मूल्यों को शैक्षिक अनुक्रम में सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। शैक्षिक मूल्यों को बिना आचरण में उतारे किसी व्यक्ति को शिक्षित नहीं समझा जाता था, जबकि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा मूल्यों का साधारण परिचय मात्र कराया जाता है। शैक्षिक उपलब्धि के दृष्टिकोण से मूल्यों का आन्तरीकरण

शिक्षार्थी के लिये अनिवार्य नहीं है। फलतः मूल्यों की संकट जैसी समस्याओं का जन्म व मूल्योन्मुख शैक्षिक आयोजन की आज एक प्रमुख आवश्यकता है, क्योंकि वर्तमान शिक्षा में न तो परम्परागत भारतीय शैक्षिक मूल्य निर्मित हो रहे हैं और नही संविधान द्वारा स्वीकृत मूल्य। मूल्य जब तक शैक्षिक आचार के आवश्यक अंग नहीं बन जाते तब तक प्रभावशाली सकारात्मक मूल्य शिक्षा असम्भव है।

आज के भारतीय शैक्षिक परिवेश में मूल्य विहीनता एक गंभीर समस्या बन चुकी है। मूल्यों का संकट सर्वत्र दिखलायी पड़ता है। विद्यार्थियों में न तो विद्यार्थी की अवधारणा परिलक्षित होती है, और न शिक्षकों में शिक्षक की। शायद यही कारण है कि भारतीयों में राष्ट्रीयता उत्पन्न करना भी एक सार्वभौमिक समस्या का रूप ग्रहण कर रही है। मूल्यविहीनता और मूल्यों में गिरावट जैसे संकटों का समाधान मूल्यपरक शिक्षा के द्वारा ही संभव है और मूल्यपरक शिक्षा का आयोजन यदि परम्परागत भारतीय मूल्यों को अलग करके किया जायेगा तो वह निष्प्रभावी सिद्ध होगा। क्योंकि जड़विहीन मूल्य विकसित नहीं हो सकते। परम्पराओं से ही मूल्यों को विकसित होने के लिये आवश्यक जीवन ऊर्जा मिलती है।

अनुशासनहीनता

आज हमारे राष्ट्रीय जीवन में सर्वत्र एक सुनियोजित अनुशासनहीनता दृष्टिगोचर होती है। छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर हड़ताल और अराजकता राष्ट्रीय जीवन के अंग बन चुके हैं। यहाँ तक कि लोकसभा, विद्यानसभा तथा न्यायपालिकाएँ भी इससे अछूती नहीं है, फिर भला शैक्षिक जगत इससे कैसे अछूता रह सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता के बाद अनुशासनहीनता और अराजकता बढ़ी है। जिन-जिन क्षेत्रों में सुधार के लिये विभिन्न समितियों का गठन हुआ है, उन-क्षेत्रों में समस्याएँ और गहरायी है। शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन सम्बन्धी स्थापित मान्यताओं का एक अनुभव सा है। शैक्षिक आचार अस्पष्ट एवं अपरिभाषित है। शिक्षित होने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि निर्धारित ज्ञानात्मक, भावात्मक और कौशलात्मक पाठ्यक्रमों में आधी-अधूरी दक्षता प्राप्त कर ले। निषिद्ध शैक्षिक आचरणों को न तो ठीक ढंग से वर्गीकृत किया गया है और न परिभाषित। मान्य शैक्षिक मूल्यों के अभाव में निश्चय ही भारतीय परिवेश में मान्य शैक्षिक आचार संहिता का निर्माण नहीं हो पाया है। शिक्षकों के लिये प्रभावशाली आचार संहिता का अभाव है और विद्यार्थियों के लिये भी। स्पष्टतः निषिद्ध शैक्षिक आचारों के लिये दण्ड संहिता का भी अभाव है। मान्यता एवं आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाली सरकारी संस्थाएँ समय-समय पर नीतिगत निर्देश अवश्य जारी करती रहती है, लेकिन इस तरह के निर्देशों का पालन प्रायः निश्चित नहीं कराया जाता, संस्थान प्रमुखों के विवेक पर छोड़ दिया जाता है। अतः पालन मात्र एक औपचारिकता रह जाती है। प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्प्रा में शैक्षिक आचारों, निषेधों एवं दण्डों का स्वरूप विधिवत् निर्धारित किया गया था। शैक्षिक आचारों का पालन विद्यार्थियों एवं आचार्यो दोनों के लिये आवश्यक था। निषिद्ध शैक्षिक आचारणों को करने पर विद्यार्थी और आचार्य दोनों को दण्ड के विद्यान थे। कुछ दण्ड तो आचार्यो द्वारा दिये जाते थे और गम्भीर शैक्षिक अपराध करने पर राज्य भी दण्ड देता था। आज शैक्षिक दण्ड संहिता के अभाव में शैक्षिक आचार का स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाया है। अतः शैक्षिक अनुशासनहीनता एक ज्वलन्त समस्या बन गयी है। प्रायः अधिकांश उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश का मानदण्ड शैक्षिक उपलब्धि एवं निर्धारित शुल्क है। फलतः शिक्षा प्रणाली स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित करने एवं सम्पूर्ण समाज को लाभान्वित करने में असमर्थ नहीं हो पा रही है। ऐसी परिस्थति में छात्र अनुशासनहीनता, शिक्षक असंतोष होना स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय शिक्षा के प्रचलित आचार प्रासांगिक है। प्राचीन भारतीय शिक्षण परम्परा के उच्च शिक्षण केन्द्रों में प्रवेश का मानदण्ड केवल शैक्षिक उपलब्धि ही नहीं था प्रवेश के पूर्व विद्यार्थी के आचरण की भी परीक्षा ली जाती थी। उच्च शिक्षा केन्द्रो में भी शिक्षक-शिष्य अनुपात आज की तुलना में बहुत कम था। अतः आज उच्च शिक्षा में प्राप्त असन्तोष को दूर करने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि परम्परागत प्राचीन भारतीय शिक्षा के आचारों को बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार ढाला जाए। अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस तरह की समस्या मुख्यतः संस्कारविहीन विद्यार्थी एवं आचार्यो के द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्परा में संस्कारों को अत्यन्त महत्व प्राप्त था। शैक्षिक संस्कारों द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व परिष्कृत होता है, वह सुसंस्कृत एवं सभ्य बनता है। भारतीय आधुनिक शिक्षा में शैक्षिक संस्कारों को अत्यन्त अल्प महत्व प्राप्त है। प्राचीन भारतीय शैक्षिक संस्कार व्यक्ति को मानवीय, सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने के दृष्टिकोण से आज भी उतने ही प्रासंगिक है, जितने कि प्राचीनकाल में थे।

शैक्षिक गुणवत्ता

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने के लिये अनेक आयोगों एवं समितियों का गठन किया गया। अनेकों बार राष्ट्रीय शिक्षा नीति की भी घोषणाएँ हुई। लेकिन हमारे देश में शैक्षिक गुणवत्ता की समस्या प्रायः सभी स्तर पर बनी हुई है। शिक्षा के स्तर का वस्तुगत मापन अत्यन्त कठिन है। अभी तक स्तरों के वस्तुगत मापन का कोई ठोस प्रयास किया भी

www.ignited.in

नहीं गया है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहना आसान नहीं है कि स्तर किस हद तक और किन दृष्टियों से निम्न हुए हैं, परन्तु इतना स्पष्ट है और वस्तुतः इसी का महत्व है। कोठारी आयोग ने कहा है कि, शिक्षा के बहुत बड़े क्षेत्र में वस्तुत्व और गुणवत्ता हमारी वर्तमान आवश्यकताओं और भावी अपेक्षाओं के सन्दर्भ में अपर्याप्त है। इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं- प्रथम वस्तुत्व और गुणवत्ता शिक्षा के स्तर को निर्धारित करते हैं, दूसरा गुणवत्ता का सम्बन्ध हमारी वर्तमान आवश्यकताओं और भावी अपेक्षाओं की पूर्ति से है। हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली इन दोनों स्तरों पर असफल सिद्ध हो रही है। स्वतन्त्रता के बाद हमारे देश का विकास द्रुतगति से हुआ है, पर हमारी शिक्षा प्रणाली की स्थिति यह है कि, वह अपने को समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने में असफल रही है। बदलते परिवेश में शिक्षा से हमारी अपेक्षायें अत्यधिक बढ़ गयी है परन्तु शिक्षा इन अपेक्षाओं की पूर्ति करने में सफल नहीं हो पा रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त लगभग 62 वर्षो में शिक्षा का संख्यात्मक विकास तो काफी हुआ है, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से शिक्षा का ह्नास हुआ हैं। आजादी के बाद की परिस्थतियों में विभिन्न निहित राजनैतिक कारणों से शिक्षा की गुणात्मक उन्नति का मार्ग अवरूद्ध हो गया है।आज आवश्यकता इस बात की है कि हम राष्ट्र के भावी कर्णधारों को ऐसी शिक्षा प्रदान करें कि वे एक आदर्श, प्रगतिशील, आत्मनिर्भर तथा नैतिक गुणों से परिपूर्ण, स्वाभिमानी समाज की रचना करने में सक्षम हो सकें। उपर्युक्त समस्याओं के निदान में प्राचीन परम्परा में प्रचलित शिक्षा की अवधारणा एवं शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त प्रासंगिक सिद्ध हो सकते हैं, शिक्षा को समाज में सम्मानजनक स्थान तभी मिल सकेगा जब उसे नौकरी का साधन न माना जाए, बल्कि उसे प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्पराओं में प्रचलित शिक्षा की व्यापक अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में मुक्ति के साधन के रूप में ग्रहण किया जाए। मुक्ति का साधन चाहे आध्यात्मिक विकास हो, या समाजसेवा। शिक्षा में गुणवत्ता ह्नास के अनेक कारण है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे छात्रों को विद्यालयों में प्रवेश दिया जाए, जिनमें पढ़ने की ललक हो, और अपेक्षित योग्यता। साथ ही, ऐसे अध्यापकों की नियुक्ति की जाए जिनमें अध्यापक व्यवसाय में अभिवृत्ति के साथ-साथ अपनी विषय की अच्छी जानकारी भी हो। ऐसा करने से अनेक समस्यायें अपने आप ठीक हो जायेंगी।

इस परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्पराओं के शैक्षिक आचार अत्यन्त प्रासंगिक है। प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्पराओं में आचार्य उन्हीं विद्यार्थियों को अपना शिष्य बनाकर गुरूकुल में प्रवेश देता था, जिनमें अपेक्षित योग्यता के साथ ज्ञान प्राप्त करने की ललक रहती थी। जहाँ तक शिक्षक व्यवसाय की बात है प्राचीन भारतीय शैक्षिक परम्पराओं में वहीं व्यक्ति इस व्यवसाय में आते थे, जिनमें त्याग की भावना के साथ ज्ञान का अथाह कोष भी रहता था। कोठारी आयोग ने अपने प्रतिवेदन में का है, 'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य की सफलता हमारे विद्यालयों एवं महाविद्यालयों से निकलने वाले छात्रों के गुणों पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय चेतना का विकास शिक्षा प्रणाली का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए। अपनी सांस्कृतिक विरासत के ज्ञान का विकास पुनर्मूल्यांकन एवं उसके प्रति भविष्य में अटल विश्वास उत्पन्न करके हमें इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए। अपेक्षित शैक्षिक गुणवत्ता लाने के लिये आवश्यक अनुशासन और नैतिक स्तर के दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति आज भी अत्यन्त प्रासंगिक है। शिक्षार्थियों के उपलब्धि स्तर को बढ़ाने के लिये प्राचीन भारत में प्रचलित शिक्षण विधियाँ अत्यन्त प्रासंगिक है।

वंचित वर्गो की शिक्षा

वंचित वर्गो से अभिप्राय समाज के उन लोगों से है, जो सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति के परिणामस्वरूप न तो सामाजिक उन्नति कर पाये है और न अपना निजी विकास ही कर पाये है। देश में ऊँच-नीच, छुआछूत, क्षेत्रीय असमानता तथा सामाजिक विलगाव के कारण ये वर्ग बने है। ऐसे वर्गो की आर्थिक स्थिति निर्बल रही है। परिणामतः इनकी शैक्षिक स्थिति अत्यन्त निम्न हो गयी है। आज हमारे देश के वंचित वर्गो की प्रतिभाएँ, उचित पोषण के अभाव में राष्ट्रीय विकास में अपना योगदान नहीं दे पा रही है। ग्रामीण और दलित घरों के बच्चों में तर्क, विचार, कल्पना, मौलिकता तथा सृजनशीलता कम नहीं होती। परन्तु उनके माता-पिताओं के अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित होने से उन्हें घर पर शहरी और सम्पन्न घरों के बच्चों जैसी सुविधायें उपलब्ध नहीं रहती। इस कारण वे विद्यालय के उस पाठ्यक्रम को, जो अपनी विषय-वस्तु में शहरी स्वरूप लि ये रहता है, शिक्षकों को शहरी मुहावरों से ओत-प्रोत भाषा के माध्यम से समझने में, आत्मसात् करने में असफल रहते हैं। जबकि शहरी और सफेदपोष बच्चों को आरम्भ से ही शिक्षा के माध्यम की भाषा के सम्पर्क में रहते हैं, इसलिये वे लाभ की स्थिति में रहते हैं। बहुत कम ऐसे अध्यापक होते हैं जो स्थानीय बोली से छात्रों को उबार कर शिक्षा के माध्यम की भाषा ले जाने का प्रयास करते हों। क्योंकि अधिकांश शिक्षक मध्यमवर्गी होते हैं। उनके मूल्य, मान्यतायें, आदतें और आग्रह सब मध्यमवर्गी होते हैं। उनको पिछड़े घरों के बच्चों से भी उसी तरह की अपेक्षायें होती है, जिन्हें बच्चे पूरा नहीं कर पाते। इस कारण वंचित वर्गो के बच्चे स्कूलों, कॉलेजों में उपेक्षित रहते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षकगण पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर वंचित घरों के बच्चों के बारे में हतोत्साहित करने वाली भविष्यवाणियाँ भी करते रहते हैं। इस प्रकार के शिक्षक

व्यवहार से उनकी अवमानना होती है और वे हीनता-बोध को प्राप्त होते हैं। परिणामस्वरूप शिक्षकों की भविष्यवाणियाँ सत्य साबित होती है। इसलिये इस तरह की अन्यायपूर्ण शैक्षिक संरचना पर प्रहार करने के लिये जनतन्त्र में वंचित वर्ग को प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान करना अनिवार्य है अतः आज का ज्वलन्त प्रश्न है कि वंचित वर्गो के बच्चों को शिक्षा कैसे प्रदान की जाए ? यदि हम वास्तव में वंचित वर्गो को शिक्षित करना चाहते हैं तो हमें समुचित सामाजिक दृष्टिकोण अपनाना होगा। वंचित वर्गो को समाज की मुख्य धारा में लाने के लिये जरूरी है कि विवेकपूर्ण दृष्टिकोण का निर्माण किया जाए। जनतान्त्रिक समाज का एक महत्वपूर्ण आदर्श और उद्देश्य शिक्षा में अवसर की समानता सुनिश्चित करना है। इसलिए सामाजिक दृष्टि से वंचित वर्गो को विशेष सुविधायें प्रदान कर उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करने का विचार भी अनेकों बार आयोगों एवं समितियों ने दोहराया है। परन्तु इस ओर अभी तक बहुत कम प्रयास हुए हैं। पुस्तकें, वस्त्र, मध्यान्ह भोजन और छात्रवृत्ति आदि सुविधायें देकर सरकार कमजोर वर्गो के बच्चों को शिक्षा की ओर आकर्षित कर रही है। अवसर की समानता को सुनिश्चत कर परिणाम की समानता तक ले जाये बिना वंचित वर्गो के साथ शिक्षा में पूरा सामाजिक न्याय नहीं हो पायेगा। क्योंकि योग्यता और सामाजिक-न्याय में समायोजन बैठाना हमारे देश की परम आवश्यकता है। यदि पूर्व प्राथमिक स्तर से वंचित वर्ग के बच्चों की प्रतिभा के विकास के लिये अच्छी सुविधाऐं मिलने लगे तो ये बच्चे उच्च वर्ग के बच्चों के साथ बराबरी कर सकते हैं। यदि जन्म से ही वंचित बच्चों के साथ सामाजिक न्याय होने लगे तो शायद बाद में उन्हें आरक्षण की आवश्यकता भी न पड़े। इस उद्देश्य को पाने के लिये राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 ने उद्घोष किया है -'समानता के उद्देश्य को साकार बनाने के लिये सभी को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराना ही पर्याप्त नहीं होगा, ऐसी व्यवस्था होना जरूरी है, जिससे सभी को शिक्षा में सफलता प्राप्त करने के समान अवसर उपलब्ध हों। इसके अतिरिक्त समानता की मूलभूत अनुभूति केन्द्रिय शिक्षा क्रम के द्वारा करवाई जायेगी। वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य है कि सामाजिक माहौल और जन्म के संयोग से उत्पन्न पूर्वाग्रह और कुण्ठायें दूर हों।

निष्कर्ष

इस प्रकार से भारतीय परम्परा में प्रचलित शिक्षा प्रणालियों की अवधारणा अत्यन्त प्रासंगिक है। तत्कालीन शिक्षा को उपभोक्ता वस्तु कभी नहीं बनाया गया, उस पर धन का वर्चस्व कभी स्वीकार नहीं किया गया। हिन्दू शिक्षा पद्धति के गुरूकुल परम्परा में निःशुल्क शिक्षा के साथ ही छात्र को अपने भोजन, निवास, वस्त्रादि पर भी कुछ व्यय नहीं करना पड़ता था। भोजन के लिये छात्र भिक्षाटन करता था। विद्यार्थियों द्वारा भिक्षाटन उस समय की सम्मिानित प्रथा थी तथा गृहस्थ अपना परम सौभाग्य समझता था कि उसके यहाँ कोई विद्यार्थी भिक्षाटन के लिये आये। अभिभावकों को अपने बालकों की शिक्षा के लिये विशेष चिन्तित नहीं रहना पड़ता था। शिक्षा प्रदान करना एक तरह से समाज की जिम्मेदारी थी। इन आदर्शों को अपनाकर यदि हम वंचित वर्गो की शिक्षा में बाधक तत्त्वों, रोटी, कपड़ा और निवास आदि को उपलब्ध करा दें तो निश्चित रूप से उनकी शिक्षा का विकास होगा और वे शिक्षा प्राप्ति के लिये अग्रसर होंगे। आज आवश्यकता इस बात की है कि वंचितों को आरक्षण के बजाय सामाजिक संरक्षण प्रदान किया जाय। इस दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय परम्पराओं में प्रचलित शिक्षण पद्धति की प्रासंगिकता आज भी है।

संन्दर्भ सूची

1 उपाध्याय, रामजी: भारतीय संस्कृति सौरभम् प्रकाशक भारतीय संस्कृत संस्थानम्, वाराणसी, 1995

2 ओमप्रकाश: प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास विश्व प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली 1997

3 काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, अनु. कश्यप, अर्जुन चौबे, उ.प्र.हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण, 1988

4 त्रिपाठी, हरिहरनाथः प्राचीन भारत में अपराध एवं दण्ड चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

5 दास, भगवान: महावीर वाणी, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1942-2000

6 मिश्र, जयशंकर: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, चतुर्थ संस्करण, 1986

7 विद्यालंकार, निरूपणः भारतीय धर्मशास्त्रों में शुद्रों की स्थिति, मेरठ 1971

8 शर्मा, आर.एस.: प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक समस्यायें, राजकमल प्रकाशन, पटना, 1992

www.ignited.in

Corresponding Author

Dr. S. K. Mahto*

Principal, Thakur Durgpal Singh Memorial B.Ed. College, RRBM University, Alwar, Rajasthan